जैन विचारधारा में शिक्षा
(शिक्षक-शिक्षार्थी स्वरूप एवं सम्बन्ध)

— **चाँदमल कर्णावट,**
उदयपुर

व्यक्ति और समाज के निर्माण एवं विकास में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। शिक्षा राष्ट्र का दर्पण है, जिसमें वहाँ की संस्कृति की झलक देखी जा सकती है और शिक्षित व्यक्तियों के आचार-विचार से किसी राष्ट्र के स्वरूप का मूल्यांकन किया जा सकता है।

विज्ञान की चहुँमुखी प्रगति के साथ शिक्षा-जगत में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। इस शैक्षिक प्रगति के फलस्वरूप मानव ने भौतिक विकास की ऊँचाइयों को हस्तगत किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इन ऊँचाइयों को हस्तगत करके भी वह आज अशान्त है, द्वन्द्व और संघर्ष से ग्रस्त है। इसका एक बड़ा कारण है शिक्षा में भौतिकता के साथ अध्यात्म और धर्म का सामंजस्य नहीं रहा। अध्यात्म और धर्म शिक्षा में क्या मूलभूत परिवर्तन ला सकता है, इस दृष्टि से विचार करने हेतु इस निबन्ध में जैन विचारधारा में शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वरूप तथा उनके संबंधों पर विवेचन किया गया है। जैन विचारधारा में चर्चित एतद्विषयक योगदान के आधार पर शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन करके उसके मंगलकारी स्वरूप को पुनः स्थापित किया जा सकता है।

शिक्षक और शिक्षार्थी—शिक्षा के पावन पुनीत कार्य में शिक्षक और शिक्षार्थी दो प्रमुख ध्रुव हैं। समुचित शिक्षा व्यवस्था की दृष्टि से इन दोनों के स्वरूप एवं इनके पारस्परिक संबंधों को समझना परम आवश्यक है। शिक्षार्थी के लिए शिक्षक आदर्श होता है और शिक्षक भी अपने शिक्षार्थी को समझकर उसकी योग्यता रुचि, विकास और पात्रता को पहचानकर ही उसे शिक्षा प्रदान करने का सफल उपक्रम कर सकता है। शिक्षक कैसा हो और शिक्षार्थी कैसा हो ? यह जानने के लिए जैन विचारधारा में प्रदर्शित शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

शिक्षक का स्वरूप—जैन विचारधारा में शिक्षक के लिए 'गुरु', 'आचार्य' एवं 'उपाध्याय' के नाम उपलब्ध होते हैं। उपाध्याय के लिए आचार्य शीलांक ने 'अध्यापक' शब्द का भी प्रयोग किया है।

जैन विचारधारा में मुक्ति या मोक्ष मार्ग के साधन रूप तीन तत्त्वों को प्रमुख माना गया है। वे हैं—देव, गुरु और धर्म। सम्यग्दर्शन या दर्शनसम्यक्त्व के पाठ में इन तीनों का उल्लेख हुआ है—

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो,
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं।[1]

---

१. आवश्यक सूत्र—दर्शन सम्यक्त्व का पाठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्तिमार्ग के तीन तत्त्वों में देव और धर्म के साथ गुरु को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गुरु ही देव और धर्म का बोध कराते हैं। जिससे सुदेव और जिनप्ररूपित धर्म की आराधना करके साधक मुक्ति मार्ग पर सफलता से अग्रसर होता है।

जैनधर्म के नमस्कार मंत्र में सिद्ध भगवान से पहले 'णमो अरिहन्ताणं' पद में अरिहन्तों को वन्दन किया गया है क्योंकि मुक्ति प्राप्त सिद्धों की अनुपस्थिति में संसार को कल्याण का मार्ग बताने वाले अरिहन्त ही हैं। वे ही विश्व के गुरु हैं। सूत्र दशवैकालिक में गुरु की महिमा और गरिमा को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि संभव है अग्नि न जलाए अथवा कुपित जहरीला साँप न खाए। संभव है समुद्रमन्थन से प्राप्त घातक विष न मारे, किन्तु आध्यात्मिक गुरु की अवज्ञा से परम शान्ति संभव ही नहीं है।[1]

जैन विचारधारा में आचार्य और उपाध्याय दोनों को गुरु/शिक्षक माना गया है। वे साधु-साध्वियों को शास्त्रों की वाचना या शिक्षा देते हैं। वे स्वयं शास्त्र का अध्ययन करते और अन्यों को भी अध्ययन कराते हैं। यद्यपि शिक्षण का कार्य मुख्यतया उपाध्याय के द्वारा ही संपन्न होता है, तथापि आचार्य भी अपने पास अध्ययन करने वाले साधु-साध्वी वर्ग को अध्ययन करते हुए शिक्षण का कार्य करते हैं।

उपाध्याय—ये शास्त्रों के रहस्य के ज्ञाता एवं पारंगत होते हैं। ज्ञान और क्रिया से युक्त इनका संयम या चारित्र शिष्य वर्ग को गहन प्रेरणा प्रदान करता है। ये २५ गुणों के धारक होते हैं। ११ अंग १२ उपांग सूत्रों के ज्ञाता होने के साथ चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी रूप चारित्रिक गुणों के धारक होते हैं।[2] ये स्वमत एवं परमत अर्थात् अन्य दर्शनों धर्मों के भी ज्ञाता होते हैं। अपने शिष्यों को उनकी योग्यता एवं पात्रता के अनुरूप शिक्षण देते हुए वे हेतु, दृष्टांत, तर्क एवं उदाहरणों से तत्त्वों की व्याख्या करते हैं जो शिक्षण को सरस, रुचिप्रद, बोधगम्य एवं हृदयग्राही बनाता है। उपाध्याय में ८ प्रभावक गुण होते हैं जो उनके जीवन की महनीयता को प्रकट करते हैं[3]—

१. **प्रवचनी**—जैन व जैनेतर आगमों के मर्मज्ञ विद्वान।

२. **धर्मकथी**—धर्मकथा (धर्मोपदेश) करने में कुशल।

३. **वादी**—स्वपक्ष के मण्डन और परपक्ष के खंडन में सिद्धहस्त।

४. **नैमित्तिक**—भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता।

५. **तपस्वी**—विविध प्रकार के तप करने में निपुण।

६. **विद्यावान**—रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि १४ विद्याओं में निष्णात।

७. **सिद्ध**—अंजन आदि विविध प्रकार की सिद्धियों के ज्ञाता।

८. **कवि**—गद्य, पद्य, कथ्य, गेय चार प्रकार के काव्यों की रचना करने वाले।

जितना उनका ज्ञान पक्ष प्रबल है, उतना ही उनका चारित्र या क्रियापक्ष भी सुदृढ़ होता है। संघ में जो सम्मान आचार्य को दिया जाता है, वही सम्मान उपाध्याय को भी प्राप्त होता है। उपाध्याय

---

१. दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ९ गाथा ७   २. आवश्यक सूत्र

३. संकलित—जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप—उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

भावश्रमण को, अर्थात् जो साधु धर्म का भावपूर्वक शुद्ध पालन करते हैं, ही वाचना देते हैं या अध्ययन कराते हैं, केवल वेशधारी साधु को नहीं। यदि वे ऐसा नहीं करते तो प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।[1] इसका अभिप्राय है कि अध्यापक शिष्य की पात्रता को देखकर परखकर ही उसे अध्ययन करावें। तभी अध्ययन-अध्यापन फलीभूत होता है। शिक्षण-प्रक्रिया में उपाध्याय अपनी विद्वत्ता एवं बुद्धि का सम्यक् प्रयोग करते हुए आचरण का आदर्श शिष्यों के समक्ष रखते हैं। इससे शिष्यवर्ग में गुरु के प्रति श्रद्धा-भाव दृढ़ बनता है।

व्यवहार सूत्र[2] में दीक्षा पर्याय अर्थात् कौन श्रमण कितने वर्षों से साधु जीवन का पालन कर रहा है, इसे लक्ष्य करके विविध शास्त्रों को वाचना लेने या शिक्षा प्राप्त करने हेतु साधुओं को अधिकृत किया गया है। जैसे तीन वर्ष का साधु जीवन जो श्रमण-श्रमणी पूर्ण कर चुका, उसे आचारकल्प, आचारांग, निशीथादि सूत्रों का अध्ययन कराया जा सकता है, आदि।

इस प्रकार श्रमण शिष्यों की पात्रता के अनुसार उन्हें वाचना या शिक्षण प्रदान करते हुए उपाध्याय स्वयं जैसी वाचना देते हैं वैसा ही वे स्वयं आचार का भी परिपालन करते हैं।

आचार्य—ये साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका (व्रतधारी सद्गृहस्थवर्ग) रूप संघ के नायक होते हैं। इस चतुर्विध संघ में धर्म का उद्योत हो और संघ के सदस्य धर्माराधना में अग्रसर हों, इस हेतु आचार्य उन्हें नेतृत्व प्रदान करते हैं। संघ में आचार्य भी अपने शिष्यों तथा अन्य श्रमणों को अध्ययन कराते हैं। वे शास्त्रों के पाठी होते हैं और शास्त्रों के मर्मज्ञ होते हैं। शास्त्र में आचार्य के ३६ गुणों का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3] वे आजीवन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पूर्णरूपेण मन, वचन, कर्म से पालन करते हैं। ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन करते, पाँच इन्द्रिय जीतते, क्रोधादि चार कषाय जीतते, ९ बाड़सहित ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पाँच समिति तीन गुप्ति का शुद्ध पालन करते हैं। वे स्वयं आचार का पालन करने से आचार्य कहलाते और अन्यों को भी आचार पालने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

सूत्र दशाश्रुतस्कन्ध[4] में आचार्य की आठ सम्पदाओं का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, आचार-सम्पदा आदि। **आचार सम्पदा** के अनुसार आचारनिष्ठा आचार्य का प्रमुख गुण है। वे आचार में दृढ़ और ध्रुव होते हैं। आचार सम्पन्न होने पर भी उन्हें किंचित् भी अभिमान नहीं होता। वे सदा संयम में जागृत रहते और अन्यों को भी जागृत रखते हैं। **श्रुतसम्पदा** में उनके ज्ञान की समृद्धि दर्शाते हुए शास्त्रकार ने बताया है कि वे आचार्य **परिचितश्रुत** अर्थात् आगमों के सूत्र—अर्थ के मर्मज्ञ, **बहुश्रुत** अर्थात् बहुत आगमों के ज्ञाता, **विचित्रश्रुत** अर्थात् स्वमत तथा अन्यमत के गहन अध्येता तथा **घोषविशुद्धिकारकता में शब्द** प्रयोग में अलंकृतत्व, सत्यत्व, प्रियत्व, हितत्व तथा प्रासंगिकता आदि में कुशल होते हैं।

'शरीर सम्पदा' में आचार्य के शरीर के बलवान, कान्तिमान, सुरूपवान एवं पूर्णेन्द्रिय, सन्तुलित आकार-प्रकार आदि का वर्णन किया गया है। आचार्य को केवल आचारवान, श्रुतवान एवं मतिमान ही नहीं बताया गया है, अपितु उनके शरीर के उत्तम रूप, आकार, बल को भी उनकी विशेषताओं में स्थान दिया गया है।

---

१. निशीथसूत्र उद्दे. १९ सूत्र २७
२. व्यवहार सूत्र उद्देशक १० सूत्र २१ से ३७
३. आवश्यक सूत्र —अरिहंतादि पंचपद भाववन्दन
४. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र अध्ययन ४ सूत्र ३ से १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य की वाचना सम्पदा या अध्यापन/शिक्षण सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन एवं उसकी व्याख्या करना यहाँ अत्यन्त प्रासंगिक है।

प्रत्येक सम्पदा की तरह 'वाचना सम्पदा' के भी चार भेद किए गए हैं। वे हैं—(अ) विदित्वोद्दिशति (ब) विदित्वा वाचयति (स) परिनिर्वाप्य वाचयति (द) अर्थ निर्यापकता। प्रथम **विदित्वोद्दिशति** में या शिक्षण की विशेषता में सर्वप्रथम आचार्य शिष्य का किस आगम में प्रवेश हो सकता है, ऐसा जानकर उनका अध्यापन करते या वाचना देते हैं। प्रारम्भ से ही आचार्य का लक्ष्य शिक्षार्थी होता है न कि शिक्षण सामग्री या पाठ्य वस्तु। वे शिष्य को जानकर और पहचानकर ही शिक्षण-क्रिया का प्रारम्भ करते हैं। **विदित्वा वाचयति** में शिष्य की धारणाशक्ति की और उसकी योग्यता को जानकर प्रमाण, नय, हेतु, दृष्टान्त एवं युक्ति आदि से सूत्र अर्थ और दोनों की शिक्षा देते हैं। इसका अभिप्राय है कि शिक्षार्थी ही शिक्षण का केन्द्र रहता है। आचार्य पाठ्य ग्रन्थों से भी अधिक शिष्य को जानने का प्रयास करते हैं। यही शिक्षण का मर्म भी है। **परिनिर्वाप्यवाचयति** में सर्व प्रकार से पूर्व पठित विषय को शिष्य ने भलीभाँति ग्रहण कर लिया है, यह जानकर ही वे शिष्य को आगे शिक्षण करते या वाचना देते हैं। **'अर्थ निर्यापकता'** में सूत्र में निरूपित तत्त्वों का निर्णय रूप परमार्थ का अध्यापन वे पूर्वापर सगति द्वारा, उत्सर्ग, अपवाद, स्याद्वाद आदि से स्वयं जानकर शिष्यों को सिखाते हैं। अर्थात् आचार्य का निजी अध्ययन, अध्यापन क्रिया के साथ गतिमान रहता है। आचार्य का शिक्षण भी रुचिकर और सुबोध बनता है क्योंकि वे हेतु, दृष्टांत, युक्ति, उदाहरण आदि का प्रयोग करते हुए विषय का स्पष्टीकरण करते हैं।

आचार्य चूँकि संघ के अनुशास्ता होते हैं, अतः वे प्रयोग और संग्रहपरिज्ञा सम्प्रदाओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का परिज्ञान एवं निर्णय करके अपने शिष्यों के लिए सर्वतोभावेन व्यवस्था देखते हैं। यह उनका अनुशासन का/शिक्षा-प्रबन्ध का एक रूप होता है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सान्निध्य में रहने वाले शिष्यों के लिए आदर्श होती है। उन व्यवहारों को देखकर शिष्य उनका अनुकरण करते और जीवन में अग्रसर होते हैं।

शिक्षार्थी या शिष्य का स्वरूप—जैन दर्शन के अनुसार कोई भी व्यक्ति केवल शरीरमय नहीं होता। उसमें एक परमशक्तिशाली ज्ञानवान आत्मतत्त्व भी होता है। इसी प्रकार शिष्य भी केवल शरीरधारी व्यक्ति ही नहीं, एक अनन्त शक्ति एवं ज्ञान सम्पन्न आत्मा भी होता है। जैन सिद्धान्त 'अप्पा सो परमप्पा' के अनुसार 'आत्मा ही परमात्मा है।' प्रत्येक आत्मा में परमात्मस्वरूप पाने की क्षमताएँ निहित होती हैं, भले ही वे कर्मों के आवरण से प्रकट नहीं हो पा रही हों। शिष्य भी इन शक्तियों का पुंज है और शिक्षा इन शक्तियों और क्षमताओं को विकसित करती और प्रकट करती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, उपयोग और वीर्य सभी आत्माओं के समान गुण हैं। इन गुणों से युक्त सभी आत्माएँ एक हैं। यह प्राणीमात्र की एकता का सुदृढ़ आधार है। शिष्य की पहचान भी उनके ज्ञान एवं विकास के आधार पर ही की जा सकती है, जाति, वर्ण, भाषा आदि के आधार पर नहीं।

सभी जीवों में चेतना और आत्मा समान रूप से विद्यमान है, तथापि उसका विकास सभी जीवों में समान नहीं होता। जैन दर्शन में विकास के आधार पर जीवों के ५ भेद किए गए हैं—एकेन्द्रियादि।[1] इस प्रकार जीवों में आत्मतत्त्व की समानता होते हुए भी विकासीय भिन्नता विद्यमान है। यह

---

१ ठाणांग ५ सूत्र ४३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास उनके सम्यक् पुरुषार्थ पर निर्भर होता है। शिष्य में भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। शिष्य वर्ग का विकास भी समान नहीं होता परन्तु पुरुषार्थ द्वारा शिष्य अपना उत्कृष्ट विकास करने में समर्थ होते हैं। शिष्य वर्ग की भिन्नता को दृष्टिगत कर पाठ्य सामग्री और शिक्षा के स्वरूप में भी तदनुसार भिन्नता होनी चाहिये।

शास्त्र उत्तराध्ययन में उल्लेख है कि गुरुकुल में गुरु के सान्निध्य में रहते हुए शिष्य उपधान अर्थात् शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप में निरत रहता है, वही शिष्य शिक्षा प्राप्ति के योग्य होता है।[1] तपाराधना से शरीर के मानसिक प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षार्थी शिक्षा में एकाग्र बन सकेगा। यह सम्यक्तप सम्यक्पुरुषार्थ का ही एक रूप है।

जैनदर्शनानुसार प्रत्येक आत्मा को ही कर्ता और भोक्ता माना गया है। स्वयं आत्मा ही अपना नियामक और नियंता है। वह अपने ही अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगता है।[2] शिष्यों को शिक्षण का समान वातावरण, शिक्षक आदि प्राप्त होने पर भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो शिष्यों में ही निहित होता है। शिक्षक के मार्गदर्शन में वे स्वयं ही अपने कर्म से परम और चरम विकास करते हैं। शिक्षक वर्ग को इस दार्शनिक तथ्य एवं सत्य को समझकर शिष्य वर्ग का समुचित सम्मान करते हुए उनकी स्वायत्तता का आदर करना चाहिए, जिससे शिष्य वर्ग में स्वतन्त्र चिन्तन एवं निर्णय की सामर्थ का विकास हो सके।

शिक्षार्थी की पात्रता के सम्बन्ध में सूत्र निशीथ में उल्लेख प्राप्त होता है[3] कि वे शिष्य वाचना या शिक्षा देने योग्य नहीं हैं जो रूक्षस्वभावी, चंचल चित्त, अकारण एक गण से गणान्तर में जाने वाले, दुर्बल चरित्र अर्थात् मूल (महाव्रत) उत्तरगुणों के विराधक, अधीर और आचार्य के प्रतिभाषी हैं। शिष्य को शिक्षण की पात्रता प्राप्त करने हेतु उक्त दोषों का परित्याग करके मधुर स्वभावी, एकाग्रचित्त, एक स्थान पर टिककर अध्ययनरत रहने वाला, धैर्यवान, दृढ़ चरित्र एवं गुरु का सम्मान करने वाला बनना आवश्यक है। शिष्य के इन गुणों में आन्तरिक और बाह्य व्यवहारपरक गुण देखे जा सकते हैं। इसी सूत्र में[4] उल्लेख है कि जो भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय) अपात्र शिक्षार्थी को वाचन या शिक्षा देता है या अन्य को वाचना का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सूत्र उत्तराध्ययन[5] में उल्लेख है कि जो शिक्षार्थी या शिष्य अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी (आलस्यादि) रोगी और आलसी होता है, वह शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। इसके आधार पर विद्यार्थी को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों दृष्टियों से योग्य होना आवश्यक है। शिक्षार्थी की पात्रता में जैन विचारधारा केवल आध्यात्मिक गुणों की ही अपेक्षा नहीं करती अपितु शारीरिक नीरोगता, स्फूर्ति आदि गुण भी अपेक्षित मानती है। इसके अतिरिक्त शिक्षार्थी में निम्न गुण भी अपेक्षित हैं—वह अहसनशील, जितेन्द्रिय, मर्म प्रकट न करने वाला और शीलवान होना चाहिये। साथ ही वह रसनेन्द्रिय का लोलुपी न हो और क्रोध पर निग्रह करके सत्य में दृढ़ प्रीतिवान हो।

आहार में सादगी और संयम भी शिक्षार्थी के आवश्यक गुण हैं। सूत्र उत्तराध्ययन, अध्ययन ११ गाथा ४-५ में ब्रह्मचर्य समाधि के ९ स्थानों में भोजन संयम के अन्तर्गत प्रणीत या सरस भोजन का

१. उत्तराध्ययन ११/१४
२. उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७
३. निशीथ सूत्र उद्देशक १९ सूत्र २०० (भाष्य)
४. उत्तराध्ययन सूत्र १९/१९
५. वही ११/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अतिआहार का निषेध किया गया है। यह निर्देश प्रत्येक मुनि की तरह शिक्षार्थी मुनि के लिए भी पालनीय है। ऐसा करके शिक्षार्थी मुनि सादा जीवन जीते हुए अधिक मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने में समर्थ हो सकेगा।

शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

(अ) **सान्निध्य या निकटता**—जैन आचार्य या उपाध्याय के पास अध्ययन करने वाला साधु-वर्ग उनके सान्निध्य में ही निवास करता है।[1] शास्त्रों में इसीलिए शिष्य के लिए 'अन्तेवासी' या निकट में रहने वाला शब्द प्रयुक्त हुआ है। गुरु के सान्निध्य में रहकर उनके प्रत्यक्ष व्यवहारों को देखते हुए शिष्य अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करता है। सान्निध्य में रहने से गुरु शिष्य को और शिष्य गुरु को भलीभाँति जानते और समझ लेते हैं। इससे शिक्षण क्रिया में शिष्य और गुरु दोनों को पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है।

(ब) **सेवा, सहयोग और स्नेहपूर्णता**—सूत्र उत्तराध्ययन में साधु-समाचारी के १० भेदों[2] में अभ्युत्थान समाचारी में बताया गया है कि शिष्य (मुनि) अपने आचार्य उपाध्याय रूपी शिक्षक के आने पर खड़ा होकर उनका सम्मान करता है और उनकी सेवा शुश्रूषा के लिए सदैव तत्पर रहता है। **छन्दना** समाचारी के अनुसार शैक्ष साधु गुरुजनों का संकेत पाकर बाल, ग्लान और शैक्ष (अध्ययनरत श्रमण) श्रमणों को आहारादि के लिए आमन्त्रण करता है। यह बाल (छोटे साधु) और रोगी तथा शिक्षार्थी साधुओं के प्रति गुरु के स्नेहभाव का द्योतक है। अभ्युत्थान में गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा एवं सेवा भावना व्यक्त हुई है। यह सभी कार्य उपकार या प्रतिकार की भावना से न करते हुए आत्मशुद्धि की भावना से किया जाता है। कितनी निरीहता है गुरु-शिष्य के इन सम्बन्धों में जो उल्लेखनीय और अनुकरणीय है। अध्यापक भी वाचना या शिक्षा का कार्य केवल आत्मशुद्धि या कर्म-निर्जरा के हेतु ही करते हैं।

(स) **विनयपूर्णता**—जैन विचारधारा में 'विनय' को शिक्षार्थी का मूलगुण माना गया है। 'विणओ धम्मस्स मूलो' अर्थात् विनय धर्म का मूल है। विद्यार्थी निस्वार्थभाव से गुरुजन का विनय करके वैनयिकी बुद्धि प्राप्त करता है।[3] इस प्रकार की बुद्धि से विनयवान शिष्य कठिनतम प्रसंगों को भी सुलझा लेता है और नीतिधर्म के सार को ग्रहण करता है। इस प्रकार विनयपूर्वक ग्रहण किया हुआ ज्ञान अभीष्ट फल प्रदाता बनता है। भगवान महावीर ने अन्तिम समय में उपदेश देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्याय में विनय की ही विवेचना की है। दशवैकालिक सूत्र में भी विनय समाधि का वर्णन उपलब्ध होता है। विनयवान शिष्य आत्मसमाधि या आत्मशांति को प्राप्त करता है।

(द) **समानता**—जैन दर्शन में माना गया है कि सभी जीवों में एक ही चेतना या आत्मतत्त्व विद्यमान है। सूत्र दशवैकालिक में बताया गया कि साधक को प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझकर सभी जीवों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना चाहिए। रागद्वेष भाव आत्मा के पतन का कारण बनते हैं। यह जानकर और मानकर आचार्य और उपाध्याय शिक्षक अपने शिक्षार्थी के साथ समान व्यवहार करते हैं। वे दोनों समताभाव से अर्थात् शिष्य को आत्मवत् समझते हुए शिष्यों को वाचना या शिक्षा देते हैं। उनके दोषों पर कभी क्रोध नहीं करते। शिष्य मुनियों के विकास को दृष्टिगत करके वे उन्हें समान भाव से वाचना देते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन ११।३
२. वही, अध्ययन २६ गाथा ५ से ७
३. नंदीसूत्र गाथा ७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक शिक्षा को योगदान—उपर्युक्त तथ्यों एवं उनके विश्लेषण के आधार पर जैन विचार-धारा में शिक्षा आधुनिक शिक्षा जगत को निम्नांकित योगदान कर सकती है—

(i) जैनविचारधारा में शिक्षक को ज्ञानवान होने के साथ-साथ उतना ही आचारनिष्ठ भी बताया गया है। ज्ञान और आचार दोनों को समान महत्त्व दिया गया है। आज शिक्षित लोगों के गिरे हुए आचरण से समाज दुखी है। चारित्रिक मूल्यों को शिक्षानीति में रेखांकित किया जाना चाहिए। क्रिया या चारित्र के अभाव में ज्ञान अभीष्ट फलदायी नहीं हो सकता।

आज शिक्षक का चयन मुख्य रूप से उसकी अकादमिक योग्यता के आधार पर ही किया जाता है। उसके आचरण या चरित्र की प्रायः उपेक्षा ही की जाती है। आचरण से गिरे हुए शिक्षक किस प्रकार चरित्रवान छात्रों का निर्माण कर सकते हैं। इसलिए शिक्षक के चयन के मापदण्डों में उसके आचरण को भी प्रमुख मानदण्ड (Criteria) निर्धारित किया जाना चाहिए। इस परिवर्तन से चरित्रवान शिक्षक प्राप्त हो सकेंगे। व्यक्तित्व, अभिरुचि एवं अभिवृत्ति परीक्षणों से यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार शैक्षिक वातावरण और अबोहवा में एक मूलभूत परिवर्तन लाना आवश्यक है। यह भी महत्वपूर्ण है कि शिक्षण में शिक्षार्थी ही केन्द्र बिन्दु रहना चाहिए।

(ii) शिक्षार्थी की पात्रता पर भी गम्भीर विचार करना आवश्यक है। अनिवार्य शिक्षा, जो सभी के लिए है, उसे छोड़कर उच्च शिक्षा में प्रवेश छात्रों की रुचि, अभिवृत्ति आदि के परोक्षण के आधार पर किया जाना वांछनीय है। जैन विचारधारा में शिक्षार्थी 'मुनि' की पात्रता पर कितना विचार किया गया है। अपात्र छात्र को अध्ययन कराने वाला आचार्य स्वयं प्रायश्चित्त का भागी होता है। अतः वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में छात्र की पात्रता के मानदण्ड निर्धारित होने चाहिए। उसमें भी आचरण पर विशेष बल होना चाहिए। इसका निर्धारण परीक्षणों द्वारा किया जा सकता है। इससे एक ओर रुचिशील, योग्य एवं सकारात्मक अभिवृत्ति वाले विद्यार्थी प्राप्त होंगे, वहाँ दूसरी ओर उच्च शिक्षा के लिए भारी भीड़ पर भी नियन्त्रण किया जा सकेगा। साथ ही इससे राष्ट्र छात्र समस्याओं से भो मुक्ति पा सकेगा।

(iii) शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों में निकटता आवश्यक है। जैन विचारधारानुसार शिक्षार्थी शिक्षक के सान्निध्य में रहकर अध्ययन करता है। वह 'अन्तेवासी' होता है। शिक्षार्थी शिक्षक के सान्निध्य में रहकर उसके जीवन व्यवहारों से जितना सीखता है, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं। आज की दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) में छात्र-शिक्षक के सम्बन्ध लुप्तप्राय हो रहे हैं। इन सम्बन्धों में निकटता की रक्षा हर प्रकार से की जानी चाहिए। इसे अधिकाधिक छात्रावासों की स्थापना से हल किया जा सकता है।

(iv) शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्धों में समानता, सेवा, स्नेह एवं सहयोग जैसे गुणों को भी विकसित किया जाना चाहिए। भारतीय परिवेश में ये गुण सांस्कृतिक विरासत में मिलने चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। जैन शिक्षानुसार शिक्षक और शिष्य शिक्षण को आत्मशुद्धि का कार्य मानते हैं, व्यवसाय नहीं।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को लेकर इन बिन्दुओं पर पुनर्विचार करना अति आवश्यक है, क्योंकि अच्छे शिक्षकों-शिक्षार्थियों एवं उनके मधुर सम्बन्धों से ही कोई राष्ट्र वास्तविक अर्थ में समृद्ध और सम्पन्न बन सकता है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org